

संगीत और समाज : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

सारांश

यदि वर्तमान काल के संगीत पर दृष्टिपात करें तो समाज में घटते नैतिक मूल्यों के कारण आज जिस प्रकार सामाजिकता की अपेक्षा व्यक्तिवाद हावी होता जा रहा है एवं व्यक्ति आज सामाजिक इकाई के रूप में नहीं अपितु एक स्वतंत्र सोच एवं अस्तित्व के रूप में उभर कर आ रहा है, उसके कई लाभ एवं नुकसान हमें प्राप्त हुए हैं। वैज्ञानिक उन्नति एवं विकास, बाजारवाद, व्यावसायिकता, प्रतिद्वन्द्विता, वैश्वीकरण, ग्लोबलाइजेशन जैसे विकसित महसूस किये जाने वाले बाह्य प्रभावों में व्यक्ति ने विकास के कई पायदान तो पार कर लिये, किन्तु यदि इसका नीतिगत सामाजिक मूल्यांकन किया जाये तो पहले समाज का जो ढांचा था, जिसमें नैतिक मूल्य थे, महापुरुषों के आदर्श थे, मां-पिता गुरुओं के सान्निध्य में ज्ञान के श्रेयात्मक व प्रेयात्मक विकास के साथ सामाजिक हित की भावना सर्वोपरि थी। व्यक्ति की विकास की यात्रा में समाज का प्रत्येक वर्ग सम्मिलित था, आज हम देखें तो व्यक्ति उस उत्कर्ष पर अकेला खड़ा दिखाई देता है? क्या यह वास्तविक विकास है, समाज के इसी ढांचे को क्या आदर्श की स्थिति मानी जायेगी?, ये प्रश्न आज का अहम् प्रश्न है! आज चाहे हम सभी मानकों को विकास के दायरे में मानें परन्तु जो बात सबसे प्रमुख रूप से मुखर रूप से वर्तमान समाज और उसमें पनप रही कला में सामने उभर कर सामने आती है वह है कि आज हर क्षेत्र में असली व नकली का भेद मिट गया या यों कहें कि जो समाज और कला का वास्तविक विशुद्ध रूप था, एवं उसका रीढ़ रूप पारम्परिक स्वरूप था, उसके स्थान पर उसमें मिश्रित संस्कृतियों एवं बढ़ती वैज्ञानिकता, विदेशी प्रभावों एवं निजीवाद या व्यक्तिवाद आदि कारणों के रहते हमारी परम्पराएं एवं भारतीय संस्कृति, जो हमारी पहचान थी, वे हमारी कलाओं से लुप्त होती जा रही है। घरानों की छत्रछाया में जो कलाकार का विकास होता था उसमें साध्य रागों की सही साधना संगीत में दिखाई देती थी, बंदिशें जो घरानों के सृजनात्मक धरातल पर राग-साधना का सही मार्ग हमें बताती थीं, गुरुओं के श्रद्धापूर्ण अनुसरण एवं उनकी सुश्रुषा के प्रतिफल से गुरु-शिष्य के सौहार्द्रपूर्ण संबंधों एवं अनुशासनात्मकता के दायरे में संगीत-शिक्षा का समुचित आदान-प्रदान होता था, आज उसका क्या सार्थक स्वरूप दिखाई दे रहा है? घरानों के संकुचित दायरे से जहां संगीत शिक्षा शिक्षण-संस्थानों के व्यापक दायरे में पहुंच गई है क्या संगीत का वही स्तर वहां दृष्टव्य है जो घरानों में पनपता रहा है और हमें एक से एक महान् कलाकार प्राप्त हुए, जिन्होंने भारतीय संगीत का सही स्वरूप समक्ष रखा था। आज क्या भीमसेन जोशी, मोहम्मद रफी, एवं मन्नाडे जैसे कलाकार क्या फिर भारत में पैदा होंगे? बढ़ते विदेशी प्रभाव से फ्यूजन, रीमिक्स, नये साज़, नये राग, शुद्ध रागों की अपेक्षा मिश्रित या परिवर्तित रागों के आधुनिक स्वरूप का बढ़ता चलन एवं विदेशी साजों का प्रयोग जैसे कई विकसित स्वरूप, आज विविध संगीतों का इंद्र धनुषीय मिश्रण या मेल, विवादी स्वरों का बहुतायक प्रयोग, सौंदर्य व रस के आग्रह एवं फिल्म प्रभाव से आवाज़-लगाव व प्रस्तुतिकरण में शुद्धता का अभाव, शैलीगत विभेद, घरानों से हटकर निजी सोच व अदायगी को प्रमुखता देने, माइक्रोफोनिक संगीत से आवाज़-लगाव में परिवर्तन, रफ्तारी ज़िंदगी के कारण संगीत-साधना एवं प्रस्तुतिकरण को शॉर्टकट बना देने से संगीत में विशुद्ध, समुचित, संवागीण, सम्पूर्ण विकास एवं आनन्द को हम स्थापित नहीं कर पा रहे, जो कि हमारे भारतीय संगीत का वास्तविक उद्देश्य हुआ करता था, जो सत्, चित् एवं आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द का साक्षात्कार कराता था। आज प्रतिद्वन्द्विता एवं भागदौड़ की ज़िंदगी में संगीत की यौगिक साधना एवं सुकून अथवा शांति गायब हो गई। विदेशी संगीत की भांति धूम-धड़ाका एवं तेज ध्वनि का प्रयोग भारतीय संगीत में भी समाविष्ट हो गया। क्या आज पुराना फिल्मी संगीत, जो आत्मा पर असर करता था, वह वापस लौटेगा? ध्रुवपद में आज पखावज के साथ लड़त-भिड़ंत का समावेश आधुनिक काल में समाहित हो गया। ध्रुवपद की पुरातन सुकून देने वाली गायकी फिर डागर बंधुओं के रस-पूर्ण गायन के साथ वापस लौटेगी आदि-आदि।



मधु भट्ट तैलंग
एसोसिएट प्रोफेसर,
संगीत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

मुख्य शब्द: संगीत और समाज के अन्तर्संबंध के सार्थक-निरर्थक पहलू, संगीत शिक्षा की उद्देश्यहीनता, शिक्षण एवं गायन-सामग्री के प्राचीन कलेवर का वर्तमान में बदलाव, वर्तमान वैश्वीकरण लगाव।

प्रस्तावना

आज सबसे बड़े चिंतन एवं शोध का विषय है कि हम हमारे संगीत को वास्तव में किस दिशा की ओर ले जाना चाहते हैं, जो समाज को सार्थक एवं समुचित विकास एवं दिशा प्रदान कर सके, जो श्रेयात्मक और प्रेयात्मक दोनों हो, साथ ही जिसमें हमारी परम्परायें, जो ऋषि-मुनियों एवं श्रेष्ठ साधकों की गहन साधना का प्रतिफल रहा है, उसे भी हम संचित एवं सुरक्षित रख सकें एवं साथ ही समसामयिकता या समकालीन संगीत के साथ भी कदम से कदम मिलाकर कला-संवर्द्धन का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

उद्देश्य

परम्परा और समसामयिकता के भेद-विभेद के मद्देनजर सामाजिक रूप से संगीत और समाज के संबंध को परिलक्षित विविध क्षेत्रों पर दृष्टिपात किया जा सकता है।

संगीत-शिक्षा

संगीत के गुरु-शिष्य के मध्य संप्रेषण की आदर्श प्रणाली घरानेदारी को माना गया है। संगीत के मध्यकाल में राजदरबारों के संरक्षण में संगीतकारों की कला को प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा अतएव कलाकारों ने अपनी निजी विशेषताओं के आधार पर स्वयं के घराने भी बनाये। उदाहरणार्थ- जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह के 36 कारखानों में एक 'गुणीजनखाना' में उ. अलादिया खां ने 'जयपुर घराने' की नींव डाली जो महाराष्ट्र तक फला-फूला। नालन्दा विश्वविद्यालय से पूर्व वेदों के समय से लेकर मध्यकाल घरानों के समय तक गुरु एवं शिष्य व उसके परिवार के भरण पोषण की जिम्मेदारी सामाजिक स्तर पर वहन की जाती थी। जातिप्रथा के कारण विद्या के आदान-प्रदान का कार्य ब्राह्मणों के द्वारा किया जाता रहा, गुरु-शिष्य को भीख, दान एवं दक्षिणा आदि के आधार पर जीवन-निर्वहन का सम्मानजनक आय स्रोत प्राप्त था, राजाओं के समय भी राजा द्वारा कलाकारों को भेंट, पगार, दान व सम्मानस्वरूप सोना-चांदी एवं जमीन आदि जागीरें प्राप्त होती थीं अतएव निश्चित होकर गुरु-शिष्य विद्याध्ययन करते-कराते थे एवं संगीत के प्रायोगिक पक्ष का गहन अध्ययन-अध्यापन, चिंतन, गुंथन व मनन चलता था एवं विद्यार्थी गुरुकुल में रहकर अपने को उत्कृष्ट बनाकर निकलता था किन्तु राजकीय संरक्षण के अभाव में कलाकार आजीविका के लिए अपने-अपने राज्यों को छोड़कर चले गये एवं प्रतिभाशील शिष्यों का भी गुरुओं से सान्निध्य छूटने लगा व एक राज्य से दूसरे राज्य पहुंच जाने से कलाकारों की कला पर प्रादेशिक भौगोलिक, सामाजिक एवं निजी क्षमताओं एवं गुणों आदि-आदि प्रभावों के साथ समसामयिक परिवर्तनों का प्रभाव भी पड़ा इसीलिए एक ही घराने के कलाकारों की गायन-शैली में परिवर्तन दिखाई दिया, उदाहरणार्थ - जयपुर घराने के मल्लिकार्जुन मंसूर व मोघूबाई एवं उनकी बेटी किशोरी अमोनकर के आवाज़ लगाव व गायकी में फर्क दिखाई देता है। दूसरा पारिवारिक निर्वहन के संघर्ष के रहते एवं अन्यान्य कारणों से घरानेदार कलाकारों की

कला उनके परिवार के बच्चों तक सीमित होने लगी जिससे प्रतिभाशील विद्यार्थी कुंठित होने लगे।

19वीं शताब्दी का प्रारंभ शिक्षा के इस संकुचन में फिर एक विस्तार लेकर आया। विष्णुद्वय अर्थात् पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर एवं पं. विष्णु नारायण भातखण्डे के प्रयासों से संगीत विषय स्कूलों तक पहुँचा, जहाँ प्रारंभिक समय में तो घरानेदार कलाकारों की नियुक्ति हुई एवं योग्य गुरुओं के सान्निध्य में गुणी विद्यार्थी भी निकले, जिन्होंने नाम के साथ विद्या का प्रचार-प्रसार भी किया किन्तु समयावधि की सीमा एवं परीक्षण-प्रणाली के मद्देनजर उनके सकारात्मक व नकारात्मक पहलू जुड़े, जहाँ संगीत विद्या प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के साथ संगीत में रुझान रखने वाले वृहद् समुदाय में विद्यार्थियों के पास पहुंची, वहीं औसत व प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थियों का शिक्षण के लिए निर्धारित समय में समवेत रूप से शिक्षण लिये जाने के कारण विद्यार्थियों को अपेक्षित विस्तार एवं गहराई नहीं प्राप्त हो सकी दूसरा गुरुकुल में जो दिन-रात के चारों प्रहरों में सम्भावित विद्या का आदान-प्रदान था वह समय सीमा में संकुचित हो गया। अंकों की प्रतियोगिताओं के खिलाड़ी रूप विद्यार्थियों को शिक्षण-संस्थानों में नौकरी मिलने के कारण औसतगुण वाले शिक्षकों द्वारा शिक्षा दिये जाने के कारण संगीत का कलेवर ही परिवर्तित हो गया, आवाज़-संस्कार से लेकर संगीत की बारीकियाँ एवं विशेषण तिरोहित होने लगे। अतएव डिग्री से नौकरी लेने की मजबूरी से शिक्षण-संस्थानों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के समय का सदुपयोग न होने के कारण शिक्षा के स्तर में गिरावट आने लगी। विद्वान कलाकारों के पास डिग्री न होने के कारण शिक्षा संस्थानों में नियुक्ति न मिलने के कारण उनके ज्ञान का समुचित सदुपयोग समाज के इन प्रतिभाशील विद्यार्थियों को नहीं प्राप्त हो सका। दूसरा वर्तमान आर्थिक युग में गुरु निःशुल्क शिक्षा नहीं दे पा रहे, एवं प्रतिभाशील निर्धन शिष्य मानदेय भी नहीं दे पा रहे एवं शिक्षा का सही सफर तय नहीं हो पा रहा। अर्थ की धुरी पर घूमते समाज में गुणी गुरु के स्वयं परिवाजन भी उस परम्परा का निर्वहन नहीं कर पा रहे, वह दूसरी नौकरियों को आत्मसात कर रहे हैं। स्तर की गिरावट के कारण गुरु-शिष्य के आदर्श व सम्मानजनक संबंधों व मूल्यों में भी भारी नैतिक गिरावट आई है। कुल मिलाकर सामाजिक स्तर पर संगीत-शिक्षा के विघटन व अवमूल्यन का यह काल है।

शिक्षण एवं गायन-सामग्री

भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रमुख आधार राग-पद्धति है, जिसके उद्भव का काल मतंग के 8वीं शती में ग्रंथ 'बृहद्देशी' से माना जा सकता है। मध्ययुगीन राग-रागिनी पद्धति ने उसे विस्तार दिया गया, रागों को पुरुष मानते हुए उसकी पत्नी रूप रागिनियां व पुत्र-पुत्रादि आदि माने गये। मध्यकाल तक का काल आध्यात्मिकता व भक्ति-प्रवाह का उत्कृष्ट काल कहा जा सकता है जो कि आज के वैज्ञानिक युग में भी सामंजस्य पैदा किये हुए है। नाद ब्रह्म व शब्द ब्रह्म के प्राचीन शास्त्रीय मन्तव्य के रहते संगीत को देवी-देवता के साथ जोड़ा जाता रहा, उसके राग-ध्यान बने। देवता रूप

प्रकृति से भी उसे जोड़ा गया आदि-आदि। कृष्ण एवं शैव आदि धार्मिक मतों का प्रभाव हमारे संगीत पर रहा। कृष्ण का उपेक्षाकृत अधिक प्रभाव सार्वभौमिक है। संगीत के शास्त्रीय से लोक स्वरूप तक कृष्ण हीरो बने रहे हैं, यदि उन्हें हटा दिया जाये तो गायन, वादन एवं नृत्य सभी अनाथ हो जायें या प्राणहीन हो जायें, विद्याप्यात्रि मां सरस्वती का विद्या कार्य से पूर्व सर्वत्र प्रथम पूजन भी हमारे आध्यात्मिक होने का पुख्ता प्रमाण है अर्थात् 'धारणात् धर्म इत्याहु' सिद्धान्ताधार पर संगीत के माध्यम से समाज को धर्म प्रवण बनाये रखने का कार्य प्राचीनकाल से आज तक होता रहा है। यद्यपि उत्तर भक्तिकाल से लेकर मुगलकाल तक भक्ति में भी श्रृंगार का रूप ले लिया, आज फिल्मी संगीत व मीडिया में दिखाये जाने वाले संगीत का स्वरूप भी घोर श्रृंगारिकता के आगोश में है, जिसने समाज की धारा को ही तिरोहित कर दिया। आध्यात्मिकता ने जहाँ समाज को सुसंस्कृत किये हुए था, आज नई पीढ़ी की संस्कृति उस जड़ से हट चुकी है। विदेशी खानपान एवं रहन-सहन आदि प्रभावों के रहते एवं वर्तमान आर्थिक प्रतिद्वंद्विता के युग में इन दीर्घकालीन 'संगीत' आदि साधनाओं का अस्तित्व खतरे में है। विद्यार्थियों में प्रतिभा एवं रुझान सभी है किन्तु पारिवारिक एवं स्वयं के स्तर पर धैर्य व संयम का नितान्त अभाव है, अतएव संगीत की ज्ञानात्मक विस्तृत सामग्री एवं वर्तमान रपतार में सामंजस्य कैसे हो, यह बहुत चिन्तनीय एवं विचारणीय विषय है। मीडिया के इस समय में ज्ञान के विस्तृत विविध क्षेत्रों तक घर बैठ कर ही आसानी से पहुंच हो जाती है अतएव आज विद्यार्थी व शिक्षक के विज्ञान या दृष्टि में बहुत विस्तार संभावित हैं किन्तु समयाभाव के रहते दीर्घकालीन साधना की कमी एवं मुख्य स्रोत उचित गुरु के सान्निध्य की कमी के रहते बुनियाद विहीन इमारत के रूप में आज संगीत खड़ा है। ज्ञान की वह सामग्री, जिसे विरासत के रूप में हमारी वरिष्ठ पीढ़ी ने सहेजा, वह समाज की धरोहर धीरे-धीरे समाप्ति के कगार पर है। विशुद्ध पुरानी रागें, बन्दिशें एवं रागदारी आदि सभी स्कूल, कॉलेजों से लेकर कलाकारों के घरों व होनहार संगीत-विद्यार्थियों आदि महत्वपूर्ण घटकों से धीरे-धीरे गायब हो गईं, देखें तो समाज की आज उसके प्रति परवाह व चिन्ता भी नहीं होती है फिर भारतीय कला-संस्कृति एवं उससे समृद्ध समाज की हम भविष्य में क्या कल्पना कर सकेंगे?

वर्तमान वैश्वीकरण एवं मीडिया युग के सकारात्मक-नकारात्मक पहलू

आज भारतीय समाज का जातिगत, धार्मिक, शैक्षिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक, आदि क्षेत्रों में बहुत विस्तार हुआ है, जिसका प्रभाव हमारी संस्कृति व सभ्यता पर हर युग की भांति पड़ा है। पहले जातियों, गोत्रों, वर्ग, कबीले, संप्रदायों, घरानों एवं परम्पराओं आदि जैसे निकायों में हमारा समाज व संगीत बंटा हुआ था, आज वह सभी बंधन लगभग टूट चुके हैं।

उन सीमाओं में भी बहुत समृद्ध संगीत पैदा हुआ एवं आज के सीमा विहीन परिवेश में भी संगीत बहुत विस्तृत एवं समृद्ध हुआ है। जहाँ हम स्वामी हरिदास,

तानसेन एवं घराने के संस्थापकों की परम्पराओं का श्रद्धावन्त होकर आंख मूंदकर अंधानुकरण करते थे वहाँ विशुद्धता भी दिखाई देती थी, अब हम विस्तृत फलक के केनवास पर अपनी कला की कूची को विस्तार देते हैं, तो उससे पैदा हुई कृति भी हमें लुभाती है, इससे ही अपने घराने से उपर उठे समान घराने वाले भीमसेन जोशी, उ. अमीर खां एवं घराने की सीमा से परे पं. रवि शंकर जैसे अलग-अलग सूर्य रूप कलाकार दिखाई देते हैं, जो अपने प्रकाश से हमें अपनी-अपनी ओर खेंचते हैं, जो अपनी आवाजों के लगव, गायन-प्रणाली एवं नवाचारों आदि से हमें लुभाते हैं किन्तु वर्तमान शिक्षण-प्रणाली की पैदाइश वर्तमान युवा पीढ़ी के युवा कलाकारों में क्या ऐसे कलाकार जन्म ले पायेंगे, निश्चय ही बहुत चुनौती का विषय है। मेरा मत है कि शायद वर्तमान युग सबसे ज्यादा चुनौती भरा है। जिसमें निम्नांकित बिन्दु विचारणीय हैं -

वर्तमान विद्यालयीन शिक्षा एवं उसके विविध परिवेशों एवं सीमाओं के साथ घरानेगत गुरु की गहन साधना की प्राप्ति के मूल स्रोत को पकड़ते हुए उसमें पकड़ बनाना व अपने को कला में दक्ष करना अथवा घरानेदार गुरुओं के ज्ञान-लाभ व विद्यालयीन शिक्षा-लाभ के बीच सेतु बनाना।

घरानों का वर्चस्व व प्रभाव हमारे संगीत में सदैव रहा है और रहेगा अतएव घरानेगत एवं शैलीगत आवाज की विशुद्धता को बरकरार रखते हुए इलेक्ट्रॉनिक साधनों के साथ सामंजस्य बैठाना। दूसरा वर्तमान में सुनी जाने वाली प्रयोगवादी एवं पारम्परिक घरानेवादी विद्या के बीच सामंजस्य बैठाना।

वर्तमान विद्यालयीन घरानों का वर्चस्वपुरातन से लेकर वर्तमान प्रयोगवादी युग में आविष्कृत नई रागें, नये साज, पुरानी राग का परिवर्तित अथवा नया कलेवर, अनेक संगीत-प्रकारों व संस्कृतियों का फ्यूजन, पुराने को ही रीमिक्स अंदाज में पेश करना, नया साहित्य, पुरानी या नयी विषयवस्तु आदि संगीत के विभिन्न स्वरूपों के प्रति प्रलोभनों व विशुद्ध परम्पराओं में उचित सामंजस्य बैठाना।

चमत्कार को नमस्कार जरूर होता है किन्तु जरूरी न हो वह आविष्कार ही हो। पं. बिरजू महाराज का कहना है कि "पुराना था वही हम नये कलेवर में पेश कर रहे हैं एवं जो नया था फिर पुराना हो गया, कहां से हम लायेंगे? सभी वो रास्ते बुजुर्ग खोल गये।" अतएव आज चाहे कुछ भी आविष्कार के नाम पर परोसा जा रहा है, उस विस्तार या आविष्कार के भेद को नयी पीढ़ी जरूर समझे एवं आविष्कार की ओर प्रवृत्त हो तभी सही विकास संभव है।

व्यक्ति अथवा कलाकार समाज का दर्पण होता है इसलिए जो समाज देता रहा है उससे कला व कलाकार बना है एवं कलाकार ने जो बनाया है उससे समाज का कलेवर निर्धारित होता है, साथ में एक प्रश्न जरूर उठता है कि हम भारतीय समाज व भारतीय संगीत के अनुयायी हैं तो क्या हमने भारतीयता बचाये रखी है या हम विशुद्ध रूप से भारतीय होने का दावा कर सकते हैं? उत्तर नहीं ही होगा, तो यह आज सबसे बड़ी चुनौती है कि हम ऐसा कुछ करें कि विदेशी को भी भारतीय कलेवर

में पेश करें कि हम भारतीयता के प्रवाहक कहलायें व बनें।

साहित्य अवलोकन

समाज के विकास को संगीत के परिप्रेक्ष्य में देखे गये पूर्व विश्लेषणों पर दृष्टिपात करें तो डी.डी. भारती पर प्रसारित बिरजू महाराज के उद्गार दिनांक 21 जनवरी 2014 के अनुसार समाज के पुराने मूल्यों की सार्थकता को इस रूप में देख सकते हैं कि

‘मूरख मूरख राजे कीन्हें, पंडित फिरत भिखारी, उधो करमन की गति न्यारी’ यह उक्ति आज संगीत पर हावी है। संगीत में ‘पंडित’ व ‘उस्ताद’ की उपाधि बहुत मायने रखती है, यह उपाधि आकाशवाणी द्वारा भी अनुसरित की जाती है। आज युवा लोग ही पंडित लगा रहे हैं, जिन्हें अभी बहुत कुछ सिद्ध करने के लिए आधा जीवन पड़ा है फिर आकाशवाणी की परीक्षण-प्रणाली पर लगे अनेक प्रश्नचिन्हों के मद्देनजर यह उपाधि अपनी गरिमा खो चुकी है, यह उपाधि पहले समाज निर्धारित करता था, आज व्यावसायिकता आदि कारणों से स्वयं कलाकार निर्धारित करता है अतएव इस उपाधि की वास्तविक गरिमा को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता है, अन्यथा इससे समाज में ज्ञान की महिमा एवं उसके मूल्य पर बहुत गहरा असर ज़रूर पड़ता है।

व्यक्ति का नैतिक चरित्र बहुत मायने रखता है, जो समाज का ढांचा निर्धारित करता है। संगीत को नैतिक चरित्र का आधार माना जाता रहा है किन्तु गुरु-शिष्य संबंधों, पिता-संतान संबंधों, अन्य जातिगत या देशी-विदेशी विवाहों आदि व्यवहारगत स्वच्छन्दता के रहते संस्कृति-सभ्यता के रूपान्तरण या मिश्रित संस्कृतियों से हम वास्तव में किस भारत का निर्माण करेंगे, यह बहुत बड़े चिन्तन का विषय है, लक्ष्मण रेखा जैसे शब्दों की सार्थकता खो चुकी है, यही कारण है कि आज व्यक्ति या समाज की परस्पर उन्नति-अवन्नति के मद्देनजर व्यक्ति व समाज का परस्पर सरोकार एवं समन्वय खत्म हो गया है व समाज व व्यक्ति के मध्य संबंधों की पुनःस्थापना परमावश्यक है अन्यथा हम दिशाहीन समाज एवं कलाओं को ही जन्म देंगे। हाथरस से प्रकाशित संगीत कार्यालय का प्रकाशन ‘निबंध संगीत’ के पृ. 191 में वासुदेवशरण अग्रवाल की उक्ति से संपुष्ट करती है – ‘भारतीय संगीत अत्यन्त दिव्य और पवित्र साधना है, उसके बनाये इतिहास को समझना और लिखना उत्कृष्ट शास्त्रीय साधना का फल हो सकता है। जो व्यक्ति स्वयं संगीत का साधक हो, जो जितेन्द्रिय और मन से शुद्ध हो, जो सामगान की महिमा में श्रद्धा रखता हो, जिसने गुरु-मुख से संगीत का पारायण किया हो जिसने एकनिष्ठा के समरूप के समान उसके विवेचन में श्रम किया हो, जिसके मनोबल विश्व के प्रति प्रफुल्लित हों वही भाग्यशाली भारतीय समाज की महिमा का उद्घाटन कर सकेगा, उसकी क्षमवती आराधना की हम प्रतीक्षा करते हैं।’²

संगीत की कुछ उपाधियां विचारणीय हो गई हैं जिनकी सामाजिक रूप से चर्चा, चिन्तन-मनन व सार्थकता ढूंढना बहुत आवश्यक हो गया है। संगीत-रचनाकार, कम्पोजर, निर्देशक, अरेन्जर, इवेंट मैनेजर या

प्रोजेक्टर, इन उपाधियों के भी विभेदन से वास्तविक सर्जक की मोहभंगता एवं उसके कुंठाग्रस्त या कला से विरक्त होने से ज्ञान के सतत् सृजन को बाधा प्राप्त होती हैं, सामाजिक दृष्टि से भी इसे बहुत बड़ी क्षति माना जा सकता है। आज प्रोजेक्ट लाने वाले इवेंट निर्धारित करने वाले व्यक्ति स्वयं संगीत-निर्देशक या फिल्म-निर्माता स्वयं को रचनाकार एवं निर्देशक मान बैठे हैं, जो कि बहुत चिन्तनीय विषय है, समाज को समन्वित रूप से बेलाग होकर उसके हकदार व्यक्ति को न्याय दिलाना आवश्यक है।

कुल मिलाकर आज संगीत की सामाजिक व्याख्या करने की पुनः आवश्यकता पैदा हो गई है, क्योंकि दोनों के कलेवर व ढांचे के औचित्यपूर्ण निर्माण के लिए परस्पर सम्वाद एवं समन्वय ज़रूरी है। संगीतकार उत्पादन करेगा जिससे समाज की दिशा निर्धारित होगी एवं जो समाज संगीतकारों को योगदान देगा वही कलाकार का व्यक्तित्व व कृतित्व होगा।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में सामाजिक परम्परा के विषय में महत्वपूर्ण कथ्य उद्धृत करना समीचीन होगा “परम्परा की महिमा असाधारण है और उसकी शक्ति सदा उन्नत मात्रा में साहित्य, संगीत और कला को मिलती गई है, उनके विकास में जातियों का जो उन्नत और तीव्रगतिक योग मिला है उसकी तदनुसारी निःसीम परिवर्तनशीलता को सीमित करने और मर्यादा बनाये रखने में परम्परा का असाधारण हाथ रहा है। स्वयं जिस संस्कृति की हम उपासना करते हैं और जिसकी चिरकालिकता को हम महत्व देते हैं उसकी उस चिरकालिकता को बनाये रखने में परम्परा ही विशेष सहायक होती है इस रूप में जहां परम्परा सदा परिवर्तनशीलता का कारण है, वही उसकी स्थिरता की भी आधारशिला बन जाती है।”³

पाद टिप्पणी

1. डी.डी. भारती पर प्रसारित बिरजू महाराज के साक्षात्कार एवं प्रस्तुति, दिनांक 21.1.2014 से उद्धृत।
2. पुस्तक निबंध संगीत – वासुदेव शरण अग्रवाल, प्र. संगीत कार्यालय हाथरस, पृ. 191
3. पुस्तक ‘निबंध संगीत’, आलेख – “संगीत और परम्परा – ले. डॉ. भगवदशरण उपाध्याय, प्र. संगीत कार्यालय हाथरस, पृ. 139 से उद्धृत।